Project Report
"Safeguarding the Intangible Cultural Heritage and Diverse Cultural Traditions of India"

Submitted to:
Sangeet Natak Akademy, Ravindra Bhawan, Feroz Shah Road, New Delhi

लोक नृत्य राई का उद्भव एवं विकास

यह समग्र वैष्णववाद को प्रभावित करते है, गणेश सिद्धि और लक्ष्मी संपत्ति के देव है, मराष्ट्र गुजरात और सौराष्ट्र में विशेष प्रभाव है, समस्त भारत के हृदयस्थल के रूप में बुंदेलखंड है यहॉ की उत्सवधर्मिता अत्यंत सघन है। यहा पर विदेशी प्रभाव भी अत्याधिक नहीं पड़े है अतः प्रत्येक त्यौहार में भक्ति भक्ति का प्राचुर्य मिलता है। लोक गीतों में भी इस से छुटकारा नहीं देखा गया। प्रेम के गीत हो या घृणा की भावना कोई ना कोई पौराणिक चरित्र के ब्याज से अपनी बीतें कर दी जाती है। लोक नृत्य में तो इसका अतिरेक मिलता है इसीलिए मनोरंजन के प्रसंग में भी पौराणिक चरित्र के ब्याज से बातें कही सुनी जाती है। राई जैसे लोक नृत्य के बारे में जब बुंदेलखंड के रसिक ग्रामीण से पूछा गया तो सीधी सादी बोली में उसने राई का सार इस प्रकार व्यक्त कर दिया।

टिमकी मृदंग बजे?
घुंघरू के बोल सजे
रेश्म की डोरी
चढ़के गोरी रस छलकाये
कर गागर कोरी

कहने का तात्यपर्य यह है कि राई जन मनोरंजन की ऐसी सतरंगी सरगम है जिससे नृत्य संगीत अभिनय और शौर्य प्रदर्शन की पवन गंगा बहती है।

लोक शब्द एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त किये गए यह मानव समाज की ओर इशारा करता है स्पष्ट है की लोकनृत्य एक सर्वसाधारण की कला है जो लोक में इसलिए प्रवाहमान है क्योंकि पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही परंपरा से जुड़ी चली आती है, इसमें निहित मत विचार श्रद्धा और शिष्टाचार इतने अपरिवर्तनशील है की उनकी अंतः धारा में बार बार दोहराने पर भी कोई परिवर्तन नहीं होता उलटे युग में परिस्थितिगत अपेक्षाओं के अनुसार थोड़ा बदलाव होता है, यह एक प्रकार से परिष्कार ही लाता है, लोक नृत्य में जन समाज की स्थानीय और जातीय विशेषताऐं लक्षित होती है। यहॉ ध्यान देने की बात है की लोक का संगीत भी इससे जुडा होता है जो समाज की ऐसी सहज आवाश्यकता है जिसका सामाजिक उत्सव त्यौहारों रीति रिवाजों संस्कारों और मानसिक कार्यो हेतु प्रयोग होता है यह तथाकथित शिष्ट समाज या वातावरण से बहुत दूर होता है। भले ही इस संगीत से शास्त्रीय संगीत को संवारने में सहायता मिलती है।

लोक नृत्य और लोक संगीत एक दूसरे के अनुपूरक है इनमें से एक आभाव में दूसरे का प्रभावी होना कठिन हो जाता है, अतः यह विश्वास किया जाता है कि लोकनृत्य और लोक संगीत दोनों का उद्‌भव और विकास लगभग साथ ही साथ हुआ है। ऐसा माना जाता है कि आनंद के उद्‌वेग में जब शारीरिक अंग संचालनो का आधिक्य होता है तो नृत्य की भंगिमा प्रारंभ हो जाती है। अनेक विद्‌वानों ने यह माना है कि कला आनंद की ही अभिव्यक्ति है कोई कोई तो पूरी सृष्टि को नृत्यमय मानते है जो समस्त चेतन और अचेतन इसमें भाग लेते है। लय प्रकृति का स्वाभाव है इसे हमारे ऋषियों ने भी बहुत पहले

ही मान लिया था जिसका प्रथम साक्ष्य उन्होंने शिव के ताण्डव नृत्य में बताया है। यह नृत्य ऊर्जा का प्रतीक है इसलिए शिव ऊर्जा के प्रतीक है जैसे मंडलाकार नृत्य आकाश में चलने वाले नक्षत्र की अनुकृति है उसी प्रकार लोक नृत्य राई भी पूर्ण मंडलाकार में होता है। वास्तव में राई एक कलात्मक नृत्य है अनुष्ठानिक भी है परंतु पौराणिक परिवेश जुड़ा होने पर भी एक लम्बे अंतराल के कारण अपने मूल रूप में नही रह पाया। आज राई का मनोरंजनात्मक श्रृंगारिक रूप ही लोक में रह गया है।

लोक नृत्य राई के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करते हुये उसे एक नृत्य नाट्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है लोक नृत्य राई रातभर होता है, नर्तकी और सौबत को अवकाष देने के लिए राई के मध्य स्वांग का आयोजन किया जाता है यह स्वांग व्यंगात्मक तो होते ही है साथ ही साथ स्थानीयता लिए हुए होते है। नाटक की तुलना में इनमे ना तो कोई मंच होता है। ना तो वेश–भूषा पर विशेष ध्यान दिया जाता है और न ही संवाद और भाषा का बंधन होता है। स्वांग गीत गाये भी जाते है जो राई में प्रारंभिक आलाप तोरा की पंक्ति के बाद दोहे या द्विगपंक्तियों के रूप में गाए जाते है फिर सवैया या राई गीत फागें प्रस्तुत

की जाती है। राई नृत्य जैसे कलात्मक नृम्य को कलात्मक ही रखने की प्रवृत्ति बनायीं जाती है। मनुष्य ने कृषि के साथ साथ आपदाओं और नैसर्गिक अनुभूतियों का माध्यम नृत्य को बनाया है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में नृत्यों की प्राचीनता का उल्लेख मिलता है इस सब का आधार लोकाभिरूचि है। नृत्य का कोई इतिहास नहीं मिलता वैदिक काल के पहले ही लोक नृत्य जीवन में अभिन्न अंग बन चुके थे वैदिक काल तो भारत के सांस्कृतिक जीवन का आदर्श युग है इसमें गीत वाद्य और नृत्य के जैसा अस्तित्व पाया जाता है यह संसार की अन्य संस्कृतिक जीवन का आदर्श युग है इसमें गीत वाद्य और नृत्य के जैसा अस्तित्व पाया जाता है यह संसार की अन्य संस्कृतियों में नही मिलता। हमारें वेदों में वसंतोत्सव आदि का उल्लेख मिलता है जैसा की ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अर्थवेद मे गन्धर्व और अप्सराओं के नृत्य की प्रभूत चर्चा सामाजिक जीवन और सामूहिक नृत्य में विशेषताओं को प्रदर्शित करती है, नृत्य और नर्तक दोनों का उल्लेख मिलता है। इन नृत्यों में छोटे बडे अमीर गरीब का कोई भेदभाव का कारण नहीं मिलता। उत्सवों में स्त्री पुरूष का संयुक्त नृत्य में सब लोग तन्मय होकर नाचते थे। पूर्व कालों में भी हमारे लोक नृत्यों की परंपरा विद्यमान थी। लौकिक परम्पराओं की सुरक्षा पुत्र जन्म विवाहौत्सव अथवा अभिनन्दन समारोहों में लोक नृत्य का चलन था।

राई मूलतः लोक नृत्य है जो बसंतोत्सव से जुड़ा रहा है और आज भी बसंतोत्सव से लेकर वैशाख पूर्णिमा तक राई की धूम रहती है। रबी की फसल और फाग का प्रमुख नृत्य होने के कारण उसकी प्राचीनता में कोई संदेह नही है। चंदेल नरेश मदनबर्मन 29–65 ई के समय मनाये जाने वाले वसंतोत्सव का वर्णन जिन मंण्डन के कुमारपाल प्रबंध में मिलता है। रूपकार वसंतराज ने भी चंदेल नरेश परमार्दीदेव और त्रैलोक्यवर्मन के

कार्यकाल में वसंतोत्सव का चित्रण किया है। उनके प्रहसन हास्यचूड़ामणि का अभिनय तो बसंत ऋतु में हुआ था। स्पष्ट है की यह लोकनृत्य 12 वीं सदी के पूर्व से लेकर 12वीं सदी तक प्रचलित था जो अभी तक प्रचलन में है। लोकनृत्य राई आदिकाल से चंदेलकाल में भी केवल यही लोकनृत्य ही रहा है परंतु जैसे ही वीरवर्मन 1245–82 ई की मृत्यु हुई चंदेल राज्य के टुकडे–टुकडे हो गए और छोटी–छोटी जागीरों में यह नृत्य मनोरंजन का प्रमुख साधन बन गया। बुंदेलखंड में यह स्थिति लगभग 200 वर्ष तक रही। स्वाभाविक है की सामन्ती और जागीरदारों के मनोविनोद में विशुद्ध कलात्मकता की उतनी जरूरत नही थी जितनी मसखरी और संवाद की इस कारण राई लोक नृत्य में लोक नर्तिकाओं की संख्या बड़ी और विदूषक एक दो पुरूष जैसे पात्र भी इसमें सम्मलित होते रहे। राई में अभिनय शामिल हो गया और लोकनृत्य और लोकनाट्य दोनों रूपों में प्रचलित हुआ। इस प्रकार 15 वीं सदी से लगातार लोक नृत्य के साथा साथ लोक नाट्य भी निरंतर गतिशील रहा है। ना तो इस प्रदेश में कोई साम्राज्य स्थापित हुआ और ना राई का तार टूटा। राई नृत्य में नर्तकी का घूंघट डालना और हाथ में रूमाल लेकर संकेतात्मक अभिनय करना मध्ययुग की ही देन है।

इसी प्रकार राजस्थान के लोकनाट्य गवरी गौरी की नर्तकीयों को राई कहा जाता है यहॉ तक की गवरी का नाम राई भी प्रचलित है। इससे प्रकट है की गवरी भी पहले लोक नृत्य रहा है और कालांतर में लोक नाट्य के रूप में विकसित हुआ। राई लोकनाट्य की अभिनेत्री और नर्तकी बेडनी बेडिया जाती का उद्‌बोधन करता है। यह लोक नृत्य जहॉ जनता में प्रिय है वहां राजा के सामन्तों जागीरदारों ठाकुरों आदि मध्य युग के उच्च वर्गो में प्रचलन में रहा है। उसका सर्वाधिक उत्कर्ष 19वीं शती में रहा है उच्च वर्ग के विनोद और विलासिता का साधन बनने से ही वह व्यावसायिक हुआ है और इसीलिए उसका मंचन चाहे जनता के बीच होना ही चाहे जमींदार की हवेली में बेडनी को पहले साई बयाना दिया जाता है।

मध्ययुग में राई का मंच या तो बिल्कुल सादा खुला हुआ होता था या फिर हवेली के भीतर सजा संवरा। सादे मंच के किसी भी बड़े मैदान के बीच स्वच्छ टुकड़े को रस्सी से घेर दिया जाता था और उस घेरे के भीतर एक तरफ गायक और वादक दल खडे रहते

है जिनके पीछे नगड़िया सेंकने के लिए अलाव या कंडे में आग सुलगती रहती है। तो बांकी तीन तरफ लोक नृत्य के लिए खाली रहता है। रौशनी के लिए पलीते जलाये जाते है राई नृत्य में मृदंग वादक व बेडनी के बीच एक मुकाबला चलता रहता है जो पूरी रात देखने को मिलता है उसी के लिए दर्शक पूरी रात यह सोचता रहता है की नर्तकी का नृत्य श्रेष्ठ है या मृदंग वादक का वादन दोनों की होड़ के साथ–साथ यह नृत्य भोर होते ही समापन की ओर चला जाता है।

मृदंग का उल्लेख भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में भी आता है मृदंग लोक वाद्यों में सर्वाधिक प्राचीन लोक वाद्य है लोक संगीत में आज भी मृदंग अपने वैभव एवं प्राचीन पहचान के साथ विद्यमान है। बुंदेलखंड मध्यप्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में मृदंग का प्रयोग लोक नृत्य में किया जाता है। बुंदेलखंड के राई नर्तक मृदंगवादन में अपनी सानी रखते है। प्रारंभिक काल में मृदंग का निर्माण मृदा अर्थात मिट्टी से होता था किंतु कालांतर में मृदंग का स्वरूप एक नए रूप में विकसित हुआ और उसका खोल मिट्टी के स्थान पर लकड़ी का खोल बनाया जाने लगा। आज पूरे बुंदेलखंड मध्य प्रदेश में चहुॅओर मृदंग का खोल लकड़ी से बना ही पाया जाता है यह खोल आम बीजा या शीशम की लकड़ी से बनाया जाता है। मृदंग वादकों एवं विशेषज्ञों से ये ज्ञात हुआ है की इन्हीं तीनों वृक्षों की लकड़ी ही मृदंग के खोल के लिए सर्वोत्तम टिकाऊ एवं गुणकारी मानी गयी है। मृदंग के निर्माण की ढोलक के समान ही है अंतर केवल इतना है ढोलक में धातु के छल्ले सरद में लगाये जाते है जबकि मृदंग की सरद में लकड़ी के आयताकार छोटे ठिम्मे गुटके लगाये जाते है यह

गुटके गद सिरे की ओर होते है। तथा मृदंग के आवश्यक सुर–ताल निश्चित करने के लिए इन ठिम्मों को वादकगण तत्कालिक उपलब्ध किसी ठोस वस्तु से ठीक लेते है। मृदंग में भी ताली औरगद होते है किन्तु मृदंग के गद से स्वर निकालने की विशेषता यह है कि इसके गद से आटा का लौंदा चिपकाया जाता है जिससे गंभीर आवाज़ निकलती है। ताली मे तबले जैसी स्याही लगायी जाती है मृदंग का आकार ढोलक से भिन्न होता है। यह गद की और मोटा और ताली की ओक क्रमशः पतला होता जाता है। सरदे लगायीं जातीं है। इसे कमर में बांध कर दोनों हाथों की हथेली और उंगलियों से बजाया जाता है। वादक मृदंग में बहुरंगी झालार से मृदंग को सजाता है। सजाने का यह कार्य केवल बुंदेलखंड में अधिक पाया जाता है।

यहॉ पर ढोलक में भी ऐसी सुन्दर झालर लगते है। वास्तव में लोक कलाकारों की ही यह सुन्दर सूझ है। इस नृत्य में मंजीरा झांझ या तारें अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है इन्हें प्रायः सहवाद्य के रूप में ही उपयोग किया जाता है इनका तीखा स्वर अन्य लोक वाद्यों के मिश्रित स्वरों में भराव का कार्य करता है। गॉवों में रात्रि के सान्नाटे में झांझ मंजीरा बजते है तो इनकी आवाज़ मीलों दूर तक सुनाई पड़ती है। मंजीरा पीतल या कांसे की

धातु से बनाये जाते है। वास्तव में ये दो वाद्य शुद्ध पीतल या कांसा धातु से नहीं बनाये जाते है बल्कि कांसा, पीतल की मात्रा अधिकाधिक रखकर इन धातुओं में जस्ता, तांबा, कस्कुट आदि की न्यून मात्रा भी मिश्रित की जाती है। मिश्रित धातु के कारण ही इनसे मीठा स्वर निकलता है ।

धातुओं के मिश्रण प्रकार वनज वनज एवं आकर अदि की गुणवत्ता पर ही इन वाद्यों की उत्तर ध्वनि निर्भर रहती है इनका निर्माण ताम्रकार जाती के लोग और कसेरा जाती के लोग करते है इनका आकार छोटे–छोटे गोलाकार में होता है किंतु इनका सामान्य

गोलाकार आकार होता है। लोक नृत्य राई में रमतूला तुरई

ढपला चंग टिमकी का विशेष महत्तव होता है।

लोक नृत्य राई में टिमकी नगड़िया को राई नृत्य की मौडी कहा जाता है।

यह कुम्हारों द्वारा मिट्टी का कोंढा धारा बना करा आग में पकाया जाता है उसकों पूर्ण पकने के बाद बसोर जाति धानक जाति के द्वारा उस पर भैंस या पड़े का चमड़ा पका कर चढ़ाया जाता है। और उसे चमड़े के छोटे–छोटे तनों सरदों को पूरे घारे पर मकड़ी के जाल के समान बुना जाता है इसके चमड़े बुनाई औरा घारे पर इसके स्वर का निर्धारण होता है इनका आकर गोलाकर होता है जिसका व्यास लगभग 12–14 इंच होता है जो खेर या शीशम की लकड़ी के पतले डंडो से बजायी जाती है डंडो की लम्बाई 12–14 इंच तक की होती है। इनकी मोटाई अंगूठे के बराबर होती है। इसके साथ साथ राई लोकनृत्य में अलगोजा का वादन भी होता है बुंदेलखंड मध्यप्रदेश में विभिन्न क्षेत्रों व अंचलों वॉसुरी के अपने अलग अलग नाम होते जिनमें कुछ विविधता और विशेषताएं भी है जैसे मंडला सिवनी में जोड़ा बॉसुरी अहिरी बॉसुरी मुरली जबलपुर में बंसी बॉसुरी बस्तर में माडिया बॉसुरी बेतूल होशंगाबाद भूगडू पवी या पवई धार–झाबुआ में पावला, पावली, रोहली, सुकटा–सुकटी बहली बघेलखंड में बॉसुरी बंसी मालवा निमाड़ में बंसी बंसरी बुंदेलखंड में बंसी बरेदी बॉसुरी अलगोला नाम से जाना जाता है। दो समान खड़ी बॉसुरियों को वादन की परंपरा पायी जाती है। बॉसुरी के समान इस लोकवाद्य से भी गीत के बोल निकले जाते है। चूँकि दो बॉसुरियों एक साथ बजती है अतः बॉसुरी से भिन्नता लिए हुए सुरीले सुर अलगोजा से निकलते है। अधिकतर देखा जाता है कि अलगोजा वादक बाजार में बिकने वाली दो समान बॉसुरियों को खरीदते है तथा उन्हें अलगोजा का स्वरूप स्वयं प्रदान करते है। अपनी रूचि के अनुसार अलगोजों को सुन्दरता पूर्वक फुंदरा आदि से सजाते है। नीचे के हिस्से को एक दूसरे से ढीलदार रस्सी

फुंदना या झालर से बांध देते है। इसका वादन एकल एवं सामूहिक गीतों में किया जाता है।

उत्तपत्ति

राई नृत्य की नर्तकी बेडनी समाज की सी होती है इस समाज की उत्पत्ति के पर्व हमें वेश्याओं के क्रमिक विकास पर ध्यान देना आवश्यक होगा। हमें अपने वेद पुराण रामायण, महाभारत के अध्ययन करने पर वेश्याओं की उत्पत्ति का आभास होता है महाभारत कालीन वेश्याओं का वर्गीकरण कुछ इस तरह से था।

- राजवेश्या
- नगर वेश्या
- गुप्त वेश्या
- देव वेश्या एवं
- ब्राम्ह वेश्या

पुराणों में अप्सराओं यथा मेनका रंभा उर्वशी आदि के नृत्यों एवं कृत्यों पर विस्तार से वर्णन हुआ है। इन अप्सरोओं का काम नृत्य कर मनोरंजन प्रदान ही नहीं अपितु ये अपने रूपजाल में फसाकर किसी को भी पथभ्रष्ट करने का काम भी किया करती थी। वेश्याओं का प्रयोग शत्रुओं को परास्त करने हेतु होता था, जिसमें विष कन्याओं का पर्याप्त वर्णन किया गया है। चाणक्य ने वेश्याओं को क्षति पहुॅचाने पर दंड देने तथा वेश्याओं की दरें निर्धारित करने संबंधी नियम बनाये थै। वेश्याओं को साधारण बोलचाल में कंजरी, गणिका आदि नामों से भले ही संबेाधित किया जा रहा है अथवा उन्हे नीची नजरों से देखा जा रहा हो किन्तु प्राचीनकाल में उन्हें नगरबधुओं और जनपद कल्याणी होने का गौरव प्राप्त था। उनके प्रसादों में अमीर उमराव ही नही सम्राट तक पधारते थे तथा दरबार में उनका सम्मान भी होता था।

आम्रपाली, चित्रलेखा, मदनमाला, पिंगला, वासवदत्ता, गुणवती, सहगाअ ौर रूपाण्किा आदि कुछ इतिहास प्रसिद्ध वेश्यायें हुई है जिनके कारण कभी भीषण युद्ध हुए तो कभी तलवारें म्यान में ही समा गई। वेश्याओं के जीवन पर अश्वघोष कालीदास, मानहर्ष तथा भवभ्पूति ने ही नहीं वरन रविन्द्रनाथ टैगोर, मुशी प्रेमचद्र, आचार्य चतुरसेन, भगवती वर्मा,अमृतलाल नागर, यशपाल सहादत हसन हस्मत वंशज बेडियो या कोल्हासी कहलाए। ये परम्परागत रूप से घुमक्कड और लुटेरे थें ये चटाई की झोपडियों में अथवा तंबुओं में रहते

थे। ये हिन्दु अथवा मुसलमान कुछ भी हो सकते थे। ये जिनके बीच में रहते उन्ही के धर्म को अपना लेते । इसलिए कुछ बेडिया द्विधर्मा कुछ कबीरपंथी या सिख हुए तो कुछ पंचपीर समुदाय के।

साक्षात्कार में ही कुछ बेडनियों ने अपने समाज की उतपत्ति के विषय में बताया कि हम गंधर्व जाति के है और हमारी उत्पत्ति स्वर्गिक अप्सरा रंभा से हुई थी हम रंभा की ही संतान है वर्तमान में यह समाज मध्य प्रदेश के सोलह जिलें में तथा देश के कई राज्य में अलग अलग नामें से स्थापित है।

सिरढका – एक साक्षात्कार मे ज्ञानसिंह बुंदेला जी कहते है कि एक बेडिया परिवार सर्वप्रथम राजस्थान तरफ से आया था। उसमें पति पत्नि

एक दो लडकी थी। इस परिवार की स्त्रियां बोनी के समय खेतों खेतों जमकर नृत्य करती थीं इनके नृत्य से खुश होकर किसान इन्हें अनाज देते । इसी प्रकार कटनी के समय भी खेतों पर जाकर अनाज एकत्रित करती थी। धीरे धीरे इनके द्वारा किया जाने वाला नृत्य लोगों को पंसद आने लगा और इनकी ख्याति फैलने लगी। इनका परिवार भैंसा के ही एक मालगुजार ने मुगरयाउ नामक स्थान पर बसा दिया। बेडिया परिवार के पुरूष शुरू से ही अर्कमक रहे है। पूर्व में तो गांव के मुखिया ही इन्हें बुलाते थे अब सामान्य लोग भी खुशी के मौकोंपर इनके नृत्य करवाने लगे। पहले नर्तकी के साथ कोई सौबत नहीं होती थी धीरे धीरे गांव की सौबत इनेसे जुडने लगी और नृत्य का वह रूप अब राई नृत्य के रूप में ख्यात हुआ। इस प्रकार से इनका समा बढता गया और नृत्य परिष्कृत होता गयां नर्तकी सुन्दर होती थी और इनका नृत्य मनमोहक होता था, नर्तकी सुन्दर होती थी और इनका नृत्य मनमोहक होता था इसलिए मालगुजारों का ध्यान नर्तकी पर स्थिर होने लगा। इस प्रकार बेडिया समाज में सिरढका नाम की प्रथा का सूत्रपात हुआ।

राई :– पृष्ठभूमि

राई ऐसा आनुष्ठानिक एवं मनोरंजन प्रधान लोकनृतय व लोकनाट्य है, जिसकी अपनी परम्परा है। यह भारत वर्ष के सभी लोकनृत्यों की भांति अपनी उत्पत्ति के लिए शिव ओर शक्ति की कथाओं से जोड़ा जाता है।

राई राजस्थान और मध्यप्रदेश में इसी नाम और कम या अधिक रूप में शिव और शक्ति के नृत्य विलास का ही प्रदर्शन है। राजस्थान में भील, कंजर, मीणा और बंजारा, बेड़िया आदि जातियों की देवी शक्ति ही है। नाम बदल जाते हैं पर सबका मूल मोटिव एक है। बेड़िया मध्यप्रदेश में पश्चिमी और

दक्षिणी राजस्थान से आकर बस गये। मूलरूप में यह उनका ही आनुष्ठानिक नृत्य है, बाद में मनोरंजन प्रधान हो गया। इस कारण से इसकी जड़ें राजस्थान में आधिक हैं। अतः सर्वप्रथम राजस्थान की राई का अवलोकन आवश्यक है।

राजस्थान की राई :–

मध्यप्रदेश का उत्तरी भाग राजस्थान के नाम से अभिहित होता है। राजस्थान की साहित्यिक परम्परा अत्यंत प्राचीन है। लोक संस्कृति का आधार वहां के लोकनाट्य हैं। डॉ. महेन्द्र भानावत ने इनके अनेक प्रकार माने हैं। उनके अनुसार ये कुल 42 विविध रूपों में मिलते हैं, परन्तु उन्होंने इनका वर्गीकरण ख्याल, स्वांग और लीलाओं में किया है। बुन्देलखण्ड का पश्चिमी हिस्सा राजस्थान की सीमा को छूता है। लोकनृत्यों और नाट्यों का आदान–प्रदान होता रहता है। ख्याल, स्वांग, लीलाओं में बुन्देलखण्ड में स्वांग और राई का आंशिक प्रभाव पड़ता है। स्वांग बुन्देलखण्ड में वैसे नामों से नहीं खेले जाते जैसे राजस्थान में प्रसिद्ध है। यहां गबरीनृतय और स्वांग आशा से अधिक परिवर्तित हो गये हैं, इसलिए इनको अपने मौलिक रूप में ही प्रस्तुत करना होगा, क्योंकि राजस्थान का न तो भाषायी प्रभाव दिखता है और न खेले जाने वाले समूहों या दलों का कोई नाम ये धारण

करते हैं। इसी दृष्टि से राजस्थानी परम्परा को बुन्देली परम्परा के साथ मिलाकर देखने से दोनों भू–भागों की संस्कृति का अंतर भली–भांति समझ में आ जाता है।

राजस्थान में गबरी लोकनाट्य के उद्‌भव और विकास की अपनी परम्परा है। यह एक संयोग ही है कि गबरी नृत्य में राई–राइयों का विशेष आधार होता है। यहां बुन्देलखण्ड में गौरा या गबरी ही स्वयं राई होती है। अंतर केवल इतना है कि यहां राई भील नहीं करते, बल्कि बेड़िया जाति की नर्तकियां करती हैं और ये जाति अपने मूल रूप में आपराधिक वृत्तियों की जाति उसी प्रकार मानी जाती थी, जैसे राजस्थान में भील, मीणा, कंजर, किसविन आदि माने जाते हैं। मध्यप्रदेश में भी इन जातियों के लोग आये हैं, वे पश्चिमी मध्यप्रदेश तक ही सीमित रह गये। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बुन्देलखण्ड की राई का आधार बेड़िया जाति तो है, पर यह अधिक से अधिक 400 वर्षों से अधिक पुराना इतिहास नहीं रखती। राजस्थान में भीली संस्कृति की क्षेत्र विशेष में अधिक प्रधानता रही है। गबरी भीलों की प्रमुख देवी मानी जाती है। उन्हीं को प्रसन्न करने के लिए प्रति तीसरे वर्ष गबरी को लोक सामूहिक रूप में संगठित होकर मान्यता का अनुष्ठान लेते हैं। यहां गबरी का प्रारम्भ रक्षाबंधन के बाद आने वाली ठंड राखी से प्रारम्भ होता है और सवा महीने तक चलता है। इसके पीछे एक मोटिव होता है जो जातीय संगठन फसल की सुरक्षा, गांवों की खुशहाली, अकाल और अनेक व्याध्यिों से छुटकारा पाने का होता है। इसमें भीलों की संस्कृति तो प्रदर्शित होती ही है, साथ ही लोक जीवन के विविध रूप भी सामने आते हैं। गबरी के साथ स्वांग का भी प्रदर्शन होता है, जो सामाजिक विरूपताओं और असंगतियों का पर्दाफाश करते हैं। इसी मनोरंजन के तत्व का समावेश होता है।

बुन्देलखण्ड में मान्यता के रूप में अल्पांश में ही राई का आयोजन होता है, क्योंकि यह केवल मनोरंजनार्थ ही की जाती है। मान्यता केवल राजस्थान से भूभाग के क्षेत्र में अल्पांश में दिखती है।

उद्‌भव और विकास :–

उद्‌भव और विकास की दृष्टि से गबरी का मूलाधार शिव तथा भस्मासुर की कथा माना जाता है। कथा बहुत छोटी है, शिवजी को तपस्वी होने के कारण शमशान की भस्मी प्रसाधन के रूप में आवश्यक होती थी, इसलिए उन्होंने एक ऐसा राक्षस पैदा किया जो उनका यह काम नियमित रूप से कर सके।

उसे एक वरदान भी दे दिया कि वह जिस पर हाथ रखेगा, वह भस्म हो जायेगा और उस भस्म को शिवजी को भेंट कर देगा। एक दिन भस्मासुर को प्रमाद आ गया। उसने शिवजी की तपस्या की

जिसके फलस्वरूप एक कड़ा प्राप्त किया, यह कड़ा भस्मी कड़ा बन गया और इसी से भस्मासुर ने शिवजी को भस्म करना चाहा। अपने को संकट में देखकर शिवजी ने विष्णु से सहायता मांगी। विष्णु ने मोहिनी का रूप धारण करके भस्मासुर को नृत्य करने में ऐसा व्यस्त किया कि उसका कड़ा उसके सिर पर आ गया और वह भस्म हो गया। भस्मासुर चतुर था, मरते–मरते उसने एक वरदान मांगा कि वह किसी प्रकार अमर रहे। उसकी स्मृति के लिए गबरी नृत्य का आयोजन प्रारम्भ हुआ। यह कथा बुन्देलखण्ड में भी विभिन्न पुराणों से आई, परन्तु इसका धार्मिक रूप नहीं चल पाया। पुराणों में भस्मासुर के स्थान पर बकासुर का नाम आता है। कथा का रूप किंचित बदल जाता है। वृकासुर तीनों लोकों में उत्पात मचाते हुए शिवजी को भस्म करके पार्वती का अपहरण करने का मंत्र भी बनता है। यहां विष्णु मोहिनी का रूप धारण करके अपने कटाक्षों से मोहित करते हैं और नृत्य में लगा देते हैं, वृकासुर को भी भस्मासुर जैसा वरदान प्राप्त था और यही वृकासुर भस्मासुर कहलाता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भस्मासुर हो या वृकासुर कथा के मूल में धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मोटिव अंतर्निहित है। लोक में इसे अनेक रूप दे दिये गये। गबरी नाट्य के पीछे राजस्थान की अनेक लोक कथायें भी प्रसिद्ध हैं, जो प्रत्यक्षतः और प्रकारांतर सो शिव–पार्वती के भोले रूप और वरदान तक पहुंच जाती हैं।

लोकनाट्यों और नृत्यों का प्रमुख मोटिव मनोरंजन के साथ–साथ जनजीवन के स्वस्थ रूप में चित्रित करने का होता है। राजस्थान में गबरी लोकनाट्य अधिक है इसलिए इसमें पात्रों की संख्या भी अधिक होती है।

डॉ. भानावत के अनुसार ये पात्र 4 प्रकार के होते हैं – देवपात्र, मानवपात्र, दानवपात्र और पशुपात्र। गबरी के देवपात्र के रूप में शिव–पार्वती प्रमुख हैं। पार्वती का एक रूप कालका का होता है, जिसमें दानवपात्र की कथा सदैव जुड़ी रहती है, शिव और पार्वती लोकनृत्य में पृथ्वी लोक पर आते हैं और आलौकिक शक्ति सम्पन्न होने के कारण संभव को असंभव और असंभव को संभव बना देते हैं। यहीं देवपात्रों का प्रदेय होता है और इन्हीं से सुखांत की कामना की जाती है।

मानव पात्रों में 24 तक पात्र हो जाते हैं, प्रत्येक पात्र का अपना एक गुण होता है। ये पात्र बुढ़िया, राई, कुटकड़िया, कंजर, कंजरी, मीणा, नट, खेतुढ़ी, कालबेलिया, पाइया, बाणियां, जोगी, गरड़ा, कानगुजरी, कालूकीर, बंजारा, शकलीगर, भोपा, वनवारी, गोमा, बांझड़ी, फन्ता–फन्ती, बगली, देवर–भौजाई आदि इन पात्रों से एक विशेष चरित्र और क्रियात्मक गीत मिलता है, जिसके प्रस्तुति से गबरी की प्रभावान्विति बनती है और समाज का चित्रण होता है। जहां तक पशुपात्रों की बात है वे दोनों प्रकार के होते हैं जैसे सुअर, रीछड़ी, नाहर आदि इन पात्रों के साथ भी कोई कथा जुड़ी होती है। ये पात्र गबरी के एक

खेल के केन्द्र होते हैं। राजस्थान में गबरी का उद्देश्य पहले धार्मिक था, क्रमशः यह मनोरंजनार्थ अधिक हुआ और फिर व्यावसायिक होता गया। चूंकि गबरी संगीत प्रधान है, इसलिए इसमें अभिनय और नृत्य की रीढ़ गीत होते हैं। इन गीतों में भी संवाद प्रस्तुत किये जाते हैं। गबरी के मध्य में स्वांगों का विधान होता है, ये स्वांग शंकर्या गीत पर किया जाता है।

गबरी नृत्य लोक संस्कृति, लोकजीवन के रहन–सहन, आचार–विचार, क्रियाकर्म, रूढ़ी विश्वास, जीवन–दर्शन और सांस्कृतिक आदर्शों से ओत–प्रोत होता है, इसलिए गबरी की समस्त संरचना एक निश्चित आधार पर एक निश्चित मोटिव के साथ होती है। भीलों का यह नाट्य यद्यपि ऐसे लोगों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जिनकी पृष्ठभूमि असांस्कृतिक या अपराधपरक रही है। इनसे यह कार्य करवाकर लोकजीवन में प्रेम, ममता, करुणा, सौहार्द, वात्सल्य, स्नेह, त्याग आदि भावनाओं को जागृत करके उन्हें व्यावहारिक जीवन में प्रस्तुत करने को प्रेरित किया जाता है। गबरी के स्वांग की नकल पर अन्य प्रदेशों में भी स्वांग की संरचना होती रही है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि गबरी नृत्य नाट्य केवल क्षेत्रीय आधार पर नहीं वरन् समस्त हिन्दी प्रदेश को प्रभावित करने वाला सिद्ध हुआ है।

उत्तर मध्य युग तक देश में धर्म के नाम पर एक छद्म अपराधी संप्रदाय प्रच्छन्न रूप में उठ खड़ा हुआ, जिसमें पूर्व से पश्चिम तक तथा उत्तर से दक्षिण तक किसी न किसी माध्यम से जनसंचार करने का लक्षण बनाया। इस सम्प्रदाय में अधिकांश जिप्सी वर्ग की जातियां, जनजातियां दीक्षित होती रहीं। राजस्थान में मीणा, कंजर, किसबिन, बेड़िया, भील, शबर, गौंड़ आदि वर्ग से स्त्री, पुरुष इस सम्प्रदाय के सहायक बने।

कालक्रम इसकी प्रगति नहीं आंकी जा सकती है, पर इस संप्रदाय के द्वारा होने वाले नुकसान बहुत अधिक हैं। इस संप्रदाय का जन्म मध्यपूर्व में हुआ था। संक्षेप में इसका इतिहास यहां इसलिये बताना आवश्यक है क्योंकि इस वर्ग के उन्मूलन के साथ इसमें लीन जातियों की लड़कियों को अपनी अप्रतिम सुन्दरता, शारीरिक संघटन, अद्म्य उत्साह, निर्भीकता, मानसिक और कायिक ऊर्जा के कारण तत्कालीन सामंतों ने अपनाने की चेष्टा की, जो बाद में बहुत बड़ी सामाजिक विच्छिन्नता का कारण बनी। यह विच्छिन्नता अंग्रेजी साम्राज्य में बढ़ती ही गई और भारत के स्वतंत्र होते–होते एक अभिशॉप में परिणित हो गई।

मुगलकाल में राज परिवारों में प्रभावशाली व्यक्ति को मंच से हटाने के लिए दो तरीके अपनाये जाते थे। एक तो यह कि अधिक प्रशंसा करके उन्हें निकम्मा बनाया जाता था, दूसरा यह था कि षड्यंत्र को सफल बनाने के लिए ऐसे लोगों को चुपचाप नियुक्त किया जाता था, जो छद्मवेशी होते थे और मंच से हटाये जाने वाले व्यक्ति को नियत समय पर नेस्तनाबूत कर देते थे। ईरान में इसका प्रारम्भ हसन नाम के व्यक्ति से विशेष रूप से माना जाता है। वह बहुत ही महत्वाकांक्षी था, अपने कर्त्तव्यों के कारण वह निधामुल मुल्क का मंत्री बन गया। सुल्तान को उसकी नियत पर शक हो गया और उसने उसे बाहर निकाल दिया। हसन ने स्वयं को ईश्वर का अवतार बताया और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को गुप्त रूप से मारने के लिए ईश्वर का कार्य और स्वर्ग की प्राप्ति बताया। यही व्यक्ति फिदाई बनाने वाला साबित हुआ। हसन के अनुयायी भारत में बड़ी संख्या में गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश आदि में पाये जाते हैं, वैसे तो ये मुसलमान सियापंथी मुसलमान होते हैं, पर इनमें हिन्दुओं से मुसलमान परिवर्तित होने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक है। इसलिए हिन्दुओं के रीति–रिवाज भी मिलते हैं।

इनसे वे लोग भी जुड़े थे जो देवी काली की उपासना करने वाले जनजाति के लोग थे। उनमें चाहे राजस्थान हो या मध्यप्रदेश, गुजराज हो या महाराष्ट्र विशेषकर या तो घुमंतू जातियां इस प्रकार की उपासना करती हैं अथवा अपराधीवृत्ति वाली जातियां देवी को अपना इष्ट मानती हैं। राजस्थान का गबरी नृत्य भी प्रकारान्तर से शक्ति की उपासना का नृत्य माना जाता है।

वर्तमान में राई का स्वरूप अत्यन्त अधूरा है, क्योंकि इसमें अन्य लोकगीतों की भांति शक्तिपूजा, गणेशपूजा, महेशपूजा आदि सब तो हैं, पर इन सबका कोई संदर्भ सामने नहीं आता है। लोक इसे अन्य लोकनृत्यों की भांति इसलिए प्रारम्भ करे हैं, जिससे कि नृत्य निर्विघ्न समाप्त हो और जनरंजन अच्छी तरह से हो सके। मेरे विचार से मूल राई को पौराणिक काल के बाद प्रचलित रहने का अवसर नहीं मिला, क्योंकि मूल राई एक अनुष्ठान के साथ–साथ जनरंजन के लिए केवल श्रृंगार को ही प्रस्तुत नहीं करतीं थी। उसके पीछे एक मोटिव होता था जो विनोद के साथ–साथ एक संदेश भी देता था। राई को परिस्थितियों ने तोड़ दिया, क्योंकि देश में छोटे–छोटे राज्यों में युद्ध हुए। एक राजा नो दूसरे राजा को परास्त करने में अपनी समस्त शक्ति झोंक दी। युद्धों के बाद युद्ध होते थे। कलात्मक और अनुष्ठानात्मक कलारूपों को प्रदर्शित या अभिव्यक्त नहीं किया जा सका, इसलिए आधा जैसे लोकगाथा काव्य में यदि नृत्य की चर्चा आयी है तो वह केवल इतनी ही – नचे कंचनी तेहि भवना बामे। इससे ज्यादा वैभव की बात बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अंत तक किसी काव्य ग्रंथ में नहीं मिलती है। यह वह समय था, जब अपभ्रंश में अनेक महाकाव्य लिखे गये। उनमें श्री नृत्य का नाम भर आया। राई नृत्य स्वतंत्र रूप में बुन्देलखण्ड की भूमि पर ही बचा रहा है जिसे उत्तरी बुन्देलखण्ड में सख्याउ फाग

से जोड़ दिया है और यह कह दिया है कि वर्तमान में राई तक आते–आते राई से दोहा विलुप्त हो गया।

इसका आधार चौकड़िया फाग होती है जो उत्तरी बुन्देलखण्ड तक ही सीमित है। यह कहना कि राई का यही विधान बुन्देलखण्ड में सर्वत्र पाया जाता है, उचित नहीं है। राई लोकनृत्य पूर्णतः पौराणिक पृष्ठभूमि से आया है, जिसमें कम से कम चार चरण होते हैं। ये चारों चरण एक विधान के अंतर्गत माने गये हैं। प्रारंभ में सुमरनी जिसमें गणेश, सरस्वती, देवी, शिव आदि को मानकर अन्य देवताओं को स्मरण किया जाता है। तत्पश्चात् एक ख्याल गाया जाता है। वह स्वांग से अलग होता है। ख्याल के आधार पर सौबत को आभास मिल जाता है कि गीत की कथा क्या होगी और नर्तक नर्तकी को किस प्रकार नृत्य करना होगा। इसके उपरांत लम्बी डोरी का स्वांग गाया जाता है। जो नृत्य को विकास देता है और अंत में फाग आती है। यह प्रक्रिया हर नई फाग के साथ अपनाई जाती है। ध्यान देने की बात है कि यह नृत्य विलम्बित शुरू होता है, दोहा, ख्याल और स्वांग तक कहरवां का प्रयोग होता है इसके बाद फाग के बाद द्रुत संगीत दिया जाता है। राई गीतों में श्रृंगार तत्व प्रमुख होता है। परन्तु दूसरे प्रहर तक पहुंचते–पहुंचते इसका रस बदल जाता है। श्रृंगार के साथ हास्य, करुणा आदि के गीत आ जाते हैं, तीसरे और चौथे प्रहर में भक्ति योग आ जाता है जो ब्रह्म मुहूर्त तक भैरवी तक पहुंच जाती है। वर्तमान में बुन्देलखण्ड में जिस राई को प्रस्तुत किया जाता है, वह केवल श्रृंगारपरक एवं भक्तिपरक है। वास्तव में मूलरूप को लोक ने इसलिए भुला दिया कि राई को दरबारी संस्कृति के कारण विशेष महत्व नहीं दिया गया, जबकि मूल राई की अवधारणा अत्यन्त विशद् है। लोक साहित्य पर लिखते समय डॉ. नर्मदाप्रसाद गुप्त के छतरपुर और पन्ना आदि के

सर्वेक्षण का परिणाम माना जाता है, परन्तु गीत की अवधारणा एक पंक्ति से नहीं होती, गीत का मुखड़ा एक पंक्ति का हो सकता है इसलिए गायक रचनाकार नर्तकियां यदि इस एक पंक्ति के राई गीत को गाती हैं तो इसमें असंगति लगती है। क्योंकि गीत छोटा या बड़ा, उसका कलेवर ही इसके संदेश अथवा भाव को प्रकट करता है। वास्तव में यह प्रारंभिक पंक्ति स्थाई होती है। राई के मूल में यह एक पंक्ति होती है, इसी के आगे ख्याल जुड़ता है या स्वांग आता है कभी–कभी टोरा भी पंक्ति के स्थान पर दोहा भी प्रयुक्त किया जाता है। यदि टोरा के उपरांत ख्याल आता है तो वह एक से अधिक पंक्तियों का होता है और अपना संदेश पूर्ण करने पर समाप्त होता है। यदि स्वांग आता है तो इसके गीत तत्व तमें संदेश होता है परन्तु अत्यन्त संक्षिप्त, स्वांग गीत के साथ–साथ अपने संदेश को संप्रेषित करने के लिए अभिनीत भी किया जाता है। इसलिए भी स्वांग का प्रयोग आरंभ में न करके ख्याल का प्रयोग किया जाता है। ख्याल अपने पंक्तियों का हो सकता है। वह आगे आने वाली फाग से जुड़ता है और नृत्य को विलंबित से द्रुतगति में ले जाता है। इसलिए उत्तरी बुन्देलखण्ड में प्रचलित एक पंक्ति के राई गीत को स्वीकार करना संभव नहीं है। वस्तुतः राई के गीत में तीन कड़ियां होती हैं, जिनके आधार पर नृत्य विलंबित से विकास पाकर द्रुतगति की ओर प्रस्तुत होता है।

राई की गायिकी अत्यन्त सीधी सादी, इसकी लय भी एक निश्चित विशिष्टता लिये हुए होती है। इससे हटने पर राई का मजा नहीं रह जाता। गायक, मृदंग, ढोलक, नगड़िया, टिमकी, झांझ, मंजीरा, झींका, किंगरी आदि लोक वाद्यों की संगत में सुमरनी के बाद कहरवा या दादरा ताल में मध्य लय से गाते हैं, इसी की आवृत्ति दुगुन और चौगुन में द्रुतलय में होती है। चूंकि एक ही धुन ही देर तक आवृत्ति होती है, उसमें मृदंगिया, टिमकी

वाला और नर्तकियां अपने विभिन्न प्रकार के भावों के भावों और चरणों को विन्यास देती हैं। भाव या

गीत के अनुसार अनेक शारीरिक कौशल प्रस्तुत करती हैं, इसमें पिरामिड से लेकर अनेक प्रकार के शारीरिक संतुलन वाली क्रिया कौशल दिखाये जाते हैं, यहीं से राई तीसरे चरण में पहुंचती है, जो मुख्य पंक्तियों की आवृत्ति करते–करते द्रुत हो जाती है। इस समय नृतय में कारवां का रूप बदलकर उन्नमत्ता वाला स्वच्छंद संगीत उभर आता है। राई का चरम उन्मेश एक संगीतमय उन्मुक्तता और अठखेलियों का होता है। एक निश्चित अवधि में मृदंगिया और टिमकीवादक तीन संकेत के बाद गीत और नृत्य दोनों को एक साथ अचानक समाप्त कर देते हैं। वास्तव में यह नृतय अपनी पराकाष्ठा में संदेह निहित भाव का पूर्ण परिपाक के साथ वातावरण बना देता है। जिनका दर्शकों पर इतना प्रभाव पड़ता है कि पराकाष्ठा के अंतिम क्षणों में उनके हाथ और पैर नृत्य की गति से थिरकने लगते हैं।

यही राई की विशेषता है जो जनसमूह को बांधे रखती है। दक्षिण बुन्देलखण्ड में मध्यलय के बाद जैसे ही गायिकी में आवृत्तियां बढ़ती हैं और नृत्य के चरणों में द्रुतगति प्रवेश करती है, रमतूला और अलगोजा और शंख जैसे वाद्यों को भी बजाया जाता है, जिसकी संगत ढपला जैसे वाद्य भी देने लगते हैं, यह समां कुछ और ही होता है, जनसमूह की किलकारियों में नर्तकी (बेड़नी) की किलकारी मिलने से एक अलग संगीतमय निष्कृति होती है, इस प्रकार राई नृत्य शास्त्रीय और अर्द्धशास्त्रीय लोकनृत्यों की तुलना में एक विशिष्ट शास्त्रीय लोकनृत्य का बन जाता है।

राई वस्तुतः श्रृंगारपरक लोकनृत्य माना जाता है, परन्तु उसकी प्रकृति रात बीतते–बीतते चौथे पहर तक भक्ति परक हो जाती है, यह भक्ति जहां नायक–नायिका के निमित्त होनी थी, वहां यह आत्मा और परमात्मा के प्रति द्वियअर्थक बन जाती है।

राई का महत्व बुन्देलखण्ड में विशेष इसलिए है क्योंकि यह बुन्देलों के इतिहास के साथ विशिष्ट रूप से जुड़ गई है। अब प्रश्न उठता है कि बेड़िनी है क्या? केवल विट शब्द से बेड़िनी बना देने पर प्राचीन कालीन गिट का स्मरण हो आता है, (न नटः न बिटः न च गायनः) से बेड़िनी का संकेत तो मिलता है परन्तु यह बात स्पष्ट नहीं होती कि बेड़िनी

वात्स्यायन के कामसूत्र की नटी (रंग=योषित) ही क्यों है, बेड़िनी शब्द बेड़िया जाति की देन है और यह जाति वैदिक काल से दूसरे नामों से अपना जीवन–यापन करती आ रही है। वैदिक युग में भी कुछ ऐसी जातियां थीं जो वन में रहते हुए समाज से इसलिए विच्छिन्न थी क्योंकि एक तो वे वन में रहती थीं दूसरे उनकी वृत्तियों में सामाजिक जीवन का संश्लेष नहीं था, अनेक बार ये आपराधिक जातियों के रूप में स्वीकार की गई हैं, जबकि शासन के लोग इनका उपयोग संदेश भेजने, दूसरे जनपद या राज्यों की जासूसी करने और त्वरित गति से एकल या सामूहिक आक्रमण करने में गुरिल्ला लोगों की भांति करते थे, इनके एक प्रकार से गुप्तचर विभाग में ही रखा जाता था इसलिए इनके नाम भी अलग–अलग किस्म के मीणा, कंजर, बंजारा, वांछड़ा, कबूतरी, किसविन, बेड़िया आदि। इन जातियों को मध्य युग में थोड़ा प्रकाशन मिला है, जबकि आधा आल्हाखण्ड, परमाल रासो आदि में इसलिए उल्लेख नहीं मिलता क्योंकि ये वनस्फर जाति के लोगों के बीच में ही आल्हा–ऊदल का पालन–पोषण हुआ था, इससे आल्हा–ऊदल को भी वनस्फर कहकर ओछी जाति का माना गया था। छिताई चरित में (15वीं शताब्दी) मृदंग के साथ नृत्य की संगति मिलती है पर वह नर्तकी का ऐसा बोध नहीं करता है जैसा कि जायसी के पद्मावत में मिलता है

जिनसे बुन्देलखण्ड के समाज का सही चित्रण हो सकता है, बेड़िया जाति अपराधी वृत्ति को छोड़कर अब कलात्मक नृत्य में समाविष्ट कर ली गई है। इसका एक ही सूत्र मुगलकाल से खोजा जा सकता है, मुगल सेनाओं निमित्त विभिन्न स्थानों पर मीना बाजार लगते थे उनमें मुजरा की व्यस्था होती थी। ये मुजरे हिन्दू और मुसलमान दोनों जाति की वेश्याएं करती थीं, इनके स्कूल तय होते थे, जिनमें मुजरा तहजीब और भाषा का

अदब सिखाया जाता था, इन वैश्याओं या तवायफों को राजकी संरक्षण तो मिला हुआ था, परन्तु वे सैनिकों के साथ नहीं रह सकती थी, इसलिए अनेक बार मीना बाजारों के लिए इन विच्छिन्न परम्परा की जातियों के कलाकार (विशेषकर युवतियां) आमंत्रित कर लिये जाते थे, ये बेड़नियां जो नृत्य करती थीं, वह राही नृत्य कहलाता था। एक अन्य सूत्र से यह ज्ञात होता है कि ब्रिटिशकाल में ठग और पिंडारी दूर–दूर तक विभिन्न काफिलों के साथ जाकर ठगी और लूटपाट का कार्य करते थे, इनके साथ ही स्त्रियां काम करती थीं जो काफिलों के विभिन्न पड़ावों पर मनोरंजनार्थ नृत्य करती थीं, यह नृत्य भी राही नृत्य कहलाता था। इस नृत्य में बेड़िनी ही नृत्य कर सकती थी क्योंकि उसमें अप्रतिम ऊर्जा, अंग संचालन का कौशल और क्षपणखी वृत्ति होने के कारण एक विलक्षण सुख मिलता था। दोनों सूत्रों के आधार पर बेड़िया जाति का कलात्मक होने का अभिप्राय तो सिद्ध होता है, साथ ही राई को राही करने का औचित्य भी प्रकट हो जाता है। बेड़िया जाति की नर्तकियां बुन्देलखण्ड की राई ही विशेष तौर पर जुड़ी है अन्यथा अन्य जातियों जैसे भीलों आदि के द्वारा प्रस्तुत किया गया गबरी नृत्य भी राई के समान माना जाता है।

राई में प्रयुक्त बेड़नियों को इसी समय के आसपास जमींदारों और सम्पन्न क्षत्रियों ने अपनी शानो–शौकत के लिए पहले रखैल बनाया फिर घनिष्ठता की चरम सीमा में पत्नी बनाने का हौसला किया, ये उनको अपनाने में सफल हो गये, पर वंश में प्रवेश नहीं दिला पाये इसलिए उन्हें इतनी संभव दूरी पर घर बनाकर रखा गया कि वे सहज भाव से उपलब्ध हो सकें। यहां से बेड़नियों का एक अलग जीवन शस्त्र बना। इसमें प्रत्येक ठाकुर की एक ऐसी पत्नी को ठाकुर की आय से एक निश्चित राशि, अन्न, वस्त्र आदि की व्यवस्था की जाती थी, उनके बच्चे भी होते थे, जो कलाकार के रूप में ही कार्य करते थे।

ये नर्तकियां कहीं राई करने नहीं जाती थीं। विशिष्ट अवसरों पर अपने ही संरक्षकों का मनोरंजन व मनोविनोद करती थीं। सम्पन्न क्षत्रिय, ब्राह्मण और जमींदार वास्तव में अपनी सामंतीवृत्ति के पोषण के लिए ओरछा के महाराज इन्द्रजीत सिंह की प्रवीणराय पातुर का उदाहरण अपना रहे थे। जब तक मालगुजारी प्रथा रही, रजवाड़े रहे इनका निर्वाह होता गया। इन व्यक्तियों की शान में जब कमी आई तो ये बेड़िनियों का परिवार इनको गले की हड्डी जैसा बन गया, यदि ये इनकी अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं तो उन्हें बहुत कुछ देना पड़ता है और यदि वे ऐसा नहीं कर पाते हैं तो उनकी शान ही नहीं घटती, उल्टे फजीहत भी होती है।

वैदिक काल में बसंतोत्सव में से जुड़ा यह नृत्य किसी जमाने में चौमासा को छोड़कर प्रमुख पर्वों पर किया जाता था। इसका उस समय फसल और फाग से विशेष संबंध था, अन्य त्यौहारों में इसका तब तक प्रयोग नहीं होता जब तक कि कोई अनुष्ठान या मान्यता न मान ली जाये। राई की मादकता और मधुर संगीत लहरी की अपनी पहचान है, लोकनृत्य होते हुए भी यह अर्द्धशास्त्रीय आधार रखता है। इसके पुराने संदर्भों में इतिहास काल में संस्कृत साहित्य में सीधा उल्लेख तो नहीं मिलता है, पर प्रकारांतर से सूचना अवश्य मिलती है। इतिहासकाल में लोकोत्सव के माध्यम से यह माना जा सकता है कि इस भू–भाग में भी सामूहिक नृत्य अवश्य हुए होंगे, क्योंकि 1000 ईसवी के पूर्व तक संस्कृत और अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परायें रहीं, भाषा, काव्य इन्हीं के माध्यम से विकसित हुआ है। यह वाचिक परम्परा के लोक काव्य में विशद वर्णन के साथ नहीं आया है, क्योंकि भाषा काव्य का प्रथम चरण दोहा और चौपाइयों तक ही सीमित रहा है तथा युग की प्रवृत्तियों ने वीररस की प्रधानता के कारण इसे अवसर नहीं दिया।

मृदंगिया और बेड़नी की जोड़ी की तरह ही मृदंग और टिमकी में भी नर–मादा का सा संबंध होता है और इन वाद्य लय के साथ (मंजीरे की ध्वनि) – मंजीरे, बारातियों की तरह रस बरसाते चलते हैं।

(मंजीरे की ध्वनि उभरकर धीमें–धीमें समाप्त होती है)

(मृदंग पार्श्व में)

मृदंगवाचक सधे हाथों से मृदंग पर थाप देकर कभी सावन–भादों का गहन गंभीर मेघनाद करता है तो कभी सुनार की तरह सुधर कोमल आघात कर चुटकियां लेता। कजियां खिलाता चलता है और (टिमकी की ध्वनि) और टिमकी जैसे – दूर किसी गहरे तालाब में गोता लगा गई और कभी, वैसे ध्वनि की उभेद्य दीवार खड़ी कर दी हो।

(धीमे–धीमे टिमकी की ध्वनि उभरकर समाप्त हो जाती है)

राई में रंग–गुलाल के लोकगीत बसंत पंचमी से रंग पंचमी तक गाये जाते हैं। (होली गीत समाप्त) यदि गांव में मिलने–जुलने वालों के परिवार में किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती है तो होली के अवसर पर दुःखी परिवार को सांत्वना देने के लिए पूरी की पूरी राई मंडली अनरये की फागें गाती हुई उसके घर जाती है। इन फागों में आत्मा परमात्मा का मिलन, आत्मा अमर है, शरीर नश्वर है आदि भावों को प्रस्तुत किया जाता है।

(अनरये की फाग गीत – हंसा भये चालन हार बहुर नई मिलबे खो)

जैसा कि हमने पहले ही बताया था कि राई में बेड़नी अकेली पेशेवर होती है, जो बेड़िया जाति की होती है। नट की तरह ही बेड़िया जाति भी घुमंतू जातियों में से एक है। पर अब ये स्थायी रूप में किसी एक स्थान में बसने लगे हैं। पुरुष खेती करते हैं और महिलायें राई

नाचती हैं। बचे समय में ये खेती–बाड़ी में भी हाथ बंटाती हैं। आइये भिन्न आयु की दो बेड़नियों से भेंट करें।

भेंटवार्ता : बेड़नी क्रमांक 1

प्रश्न : आपका क्या नाम है?

उत्तर : श्रीबाई। (बदला नाम)

प्रश्न : आपने कब से नाचना शुरू किया है?

उत्तर :करीब–करीब 10–12 साल की थी तब से।

प्रश्न : आपने कुछ पढ़ाई–लिखाई की है?

उत्तर :नहीं।

प्रश्न : आपको नाच का शौक कैसे हुआ?

उत्तर :हमारे गांव में इस चीज का चलन है।

प्रश्न : श्रीबाई ये जो राई का नाच होता है, ये कौन–सी जाति की औरतें करती हैं?

उत्तर : हमारे मां–बाप से होता आया है और नाचती आई हैं। इस रंग का ऐसा तमाश है कि अच्छी–अच्छी जवान लड़कियों के हृदय में समा जाता है तो वे अपनी जाति को और घर कुटुम्ब को त्याग के भी इसमें लीन हो जाती हैं।

प्रश्न : ये नाच किस जाति ने शुरू किया होगा?

उत्तर :बेड़नी जाति ने।

प्रश्न : जब दूसरी जाति की औरतें नाचना शुरू कर देती हैं तो क्या उन्हें भी बेड़नी कहते हैं?

उत्तर :हां, उनको भी लोग–बाग बेड़नी कहते हैं।

प्रश्न : श्रीबाई, असली चीज क्या होती है? महत्व नाच का होता है या उसके बजाने या गाने का?

उत्तर : असली चीज साज–बाज, सुर के चार गुईयां गाने बजाने वाले हैं, उसके बाद नाच आता है।

प्रश्न : क्या ये नाच जिन्दा रहेगा?

उत्तर : जिन लोग–बागों के दिलों में खुशियां हैं वे इसे करेंगे और जिनके दिलों में दाग आ गया है या सुख उठा लिया है वे हटा लेंगे, अपने दिल से।

भेंटवार्ता : बेड़नी क्रमांक 2

प्रश्न : अंगूरीबाई आप कितनी उम्र से नाच रही हो ?

उत्तर : 12–13 साल की उम्र से।

प्रश्न : कहीं से सीखा भी है इसको?

उत्तर : हां हमारी बहनों से, बुआ से, वे सिखाती थीं।

प्रश्न : आप कुछ पढ़ी–लिखी भी हैं?

उत्तर : दूसरी क्लास। जबसे नाचने लगे तो छोड़ दिया।

प्रश्न : भविष्य में भी आप नाच करती जायेंगी या बंद कर देंगी?

उत्तर : करते जायेंगे।

सोने–चांदी के क्षेत्रीय आभूषण

राई में शारीरिक प्रदर्शन इतना महत्व नृत्यकला का होता है। पारिवारिक वातावरण और अनुभव ही इनका गुरु होता है, लेकिन अब इस कला में भी आधुनिक युग के चिन्ह परिलक्षित होने लगे हैं

बेड़नी सोने–चांदी के क्षेत्रीय आभूषणों से सजकर जब दर्शकों के सामने आती है तो मेनका और रम्भा की कल्पना साकार हो जाती है। केशों में गुंथे स्वर्ण फूल, माथे पर केंच का बड़ा–सा बूंदा और झूलती हुई सोने की बेंदी, आंखों में काजल की पतली कोर, नाक में बड़ी–सी गोल नथ, मुंह में पान का बीड़ा, कानों में कर्ण फूल, सांकर, गले में तिदाना, हमेल, हार, लड़ियां, बोहों में बोटा, बांकें, कलाई में गजरा, कंकना, चूड़ा, पटेला और चूड़ियां, अंगुलियों में सोने–चांदी की मुंदरियां और छल्ले, कमर में करधनी, पांवों में घुंघरू की चौरासी और पावों की उंगलियों में बजने वाली बिछियां, चूड़ीदार पायजामें के ऊपर लगभग बत्तीस हाथ का साटन या सिल्क का लहंगा, मखमल या रेशम की चोली और रेशमी फूलों की रंगीन ओढ़नी, आजकल चेहरे पर और होंठों पर लिपिस्टिक का चलन भी चल गया है।

चित्र: शीश फूल

चित्र: शीश फूल

बुन्देलखण्ड की जनरंजनी लोककथा राई में सभी वर्गों, समुदायों की अपनी कला किरण से आकर्षित किया है। बुन्देलखण्ड के इस खुले वातावरण से ज्येष्ठ की धूप और सावन के मेघ झांकते हें। रसरंगी जीवन को सप्त स्वरी सरगम निससृत होता रहता है। नृत्य, संगीत, अभिनय और शौर्य प्रदर्शन के नक्षत्रों से जन मनोरंजन करती हुई राई लगभग धुरी है। कथकली, ओडिसी और मणिपुरी नृत्य किसी समय लोक मनोरंजन की मुक्त धारा प्रवाहित करते थे। कालांतर में शासनोक्ति रीति–नीति ने इसका सुगठित एवं सुस्पष्ट रूप संवार दिया है। बुन्देलखण्ड की राई भी लोक कलाकारों, कलाशोधकों, विशेषज्ञों और विवेचकों की बाट जोहे प्रतीक्षारत हैं – विस्तुत एवं ऊंची आवाज में उड़ान भरने के लिए।

चित्र: चूरा

चित्र: कंगना

चित्र: बताने

चित्र: बैंदा

चित्र: बिंदिया

चित्र: माला

चित्र: तिदाना

चित्र: तिदाना

चित्र: तिदाना

चित्र: गजरा

चित्र: कमर करधोनी

आदर्श राई का इतिहास

विभिन्न राइयों के आधार पर राई–आदर्श राई का इतिहास ही सृष्टि कार्य का इतिहास है। सतयुग में शिव–लीलाओं का विशेष प्रचलन था। इनको भस्मासुर की कथा को सभी जानते हैं। राई का संदर्भ इससे है। राई राजा, प्रभु, मालिक और महाराज के रूप में तो जानी ही जाती है परन्तु राई अनाज का एक दाना भी होता है जिसकी लघुता को पहाड़ की विशालता से मापा जाता है। पहाड़ अचल, अहं और अडिग, विशाल, पराजेय और सर्वशक्तिमान का प्रतीक है। व्यक्ति में अहं का पहाड़, उससे गलत कार्य करवाता है। ऐसा तभी होता है जब वह गलत नीति अपना लेता है। उसे राई जैसा लघु–छोटा बनाने का कार्य महाशक्ति ही कर सकती है। ऐसा ही युग–युगों से होता आ रहा है।

इसका प्रमुख कारण यह है कि वैदिक साहित्य तक आते–आते लोक में विभिन्न स्थानों पर कुछ परम्परायें विकसित हो गई थीं, जिनका प्रदर्शन या तो कराया जाता था अथवा विभिनन अवसरों पर लोग स्वयं आयोजित करते थे। ये आयोजन थे नव संवत्सर, नव श्येष्ठी अथवा नवात्र प्राप्ति का अवसर। प्रारंभिक अवस्था में इन आयोजनों का संबंध हर्ष और उल्लास के कारण प्रारंभ हुआ, परवर्तीकाल में इसे उत्सव के रूप में स्वीकार किया गया और कालांतर में जैसे ही ग्राम, जनपद, राज्य आदि की स्थापना हुई, इसका रूप बदलता गया। प्रारम्भ में इन आयोजनों में उत्साह की अभिव्यक्ति में उन्माद और थिरकनमय अंग संचालन को महत्व दिया। संगीत में गायन वैदिक मंत्रों के साथ आया और नृत्य की पृष्ठभूमि में वाद्ययंत्र आविष्कृत किये गये।

सामान्यतया भारत में नृत्य और नाट्यकला एक–दूसरे की अनुपूरक ही रही है। उत्तर वैदिक काल में शासकों, सामंतों और स्थानीय प्रधानों के कला को संरक्षण दिया। उस

सामय तक विवाह योग्य युवक–युवती ऐसे अवसरों पर अपने दूसरे साथी का चुनाव कर लेते थे। नृत्य में स्फूर्ति बनी रहे, इस निमित्त दोनों सोमरस का पान करते थे। स्त्रियां अपने पैरों को सजातीं और दोनों आयोजन के अनुकूल वस्त्र सज्जा करते थे। इस समय तक नाट्कों के अनेक प्रकार बन चुके थे। रज्जू नृत्य, सलिल नृत्य, अरुण नृत्य, पुष्प नृत्य और बसंत नृत्य। इन नृत्यों का संदर्भ विभिन्न ऋतिओं में देखा जा सकता है।

लोकनृत्यों में विभिनन महापुरुषों और देवताओं के प्रशंसात्मक गीत गाये जाते हैं। ऋग्वेद में तो इन्हें विभिन्न वाद्यों के साथ नृतय करते दिखाया गया है। वैदिक युग में स्त्री और पुरुष को समान अधिकार नहीं, विभिन्न कलाओं और कर्मक्षेत्रों में जाने की स्वतंत्रता थी। इसलिए नृत्य और नाट्य दोनों में इनका योगदान स्वच्छंदता के साथ मिलता है। यह परम्परा रामायण काल में चलती रही। विभिन्न यज्ञों के बाद प्रतिभाशाली व्यक्ति चाहे वह किसी भी जाति, समुदाय आदि का क्यों न हो, इन कलाओं को सीखकर व व्यवहार में लाकर प्रस्तुत करता था। यह एक विचित्र संयोग है कि नृतय कला, नाट्य कला से आगे निकल गई। नाटयकला में पूरी स्वतंत्रता के साथ सज्जा संवाद और मंच की विशेष व्यवस्था अनिवार्य हो गई थी। लोक में सुविधा की प्रवृत्ति विशेष होती है, चाहे वह बोलने की बात हो या करने की। लोक सहजता की ओर अग्रसर होता है। इसलिए जहां पहले नृत्य और नाट्य साथ–साथ होते थे, वहां केवल नृत्य आयोजित होने लगे। नाटक लोक का होते हुए भी विशिष्ट लोगों की श्रेणी का हो गया। रामायण काल में इसे शिक्षा अधिग्रहण करने के बाद दिया जाने लगा। नृत्य और नाटक दोनों प्रदर्शनकारी कलायें हैं, पर एक–दूसरे के अनुपूरक होते हुए भी एक साथ नहीं चल सके। इस समय तक राजाओं को राज सिंहासन पर बैठते समय ही एक प्रदर्शनकारी कलायें प्रस्तुत की गईं। राजाओं ने अपने अंतःपुर में

सुन्दर युवतियों को नृत्य तथा अन्य कलाओं के लिए आश्रय देना प्रारम्भ कर दिया। रावण के महलों में विभिन्न वर्ग के किन्नर, गंधर्व आदि जाति की कन्यायें हमेशा होती थीं। राम जन्म के समय अनेक ग्रहों ने राजमार्ग पर आकर हर्ष और उल्लास में नृत्य का प्रदर्शन किया था। अयोध्या में सभी कलाओं के मर्मज्ञ रहते थे। बाद में युवराज या युवराज्ञी बनाने पर विभिन्न त्यौहारों या उत्सवों में इनको प्रस्तुत किया गया था। मनुष्य ही नहीं राक्षणगण भी अपने इष्ट को प्रसन्न करने में नृत्य का माध्यम अपनाते थे। भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए रावण ने भी नृत्य किया था।

महाभारतकाल में तो नृत्य और नाट्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कृष्ण की रासलीला एक नृत्य ही है। यह इतनी अधिक प्रसिद्ध हुई कि इसके साथ आध्यात्मिकता भी जोड़ दी गई। वैसे देखा जाये तो महाभारतकाल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पूरा नृत्य और संगीत के साथ दिखाई गई है। पांडव कथा में अर्जुन को अपने वनवास काल में नृत्य सीखते बताया गया है। अर्जुन राजा विराट के यहां उनकी पुत्री को नृत्य और नाट्य दोनों सिखाते थे। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण हरिवंश पुराण में मिलते हैं। नृत्य के संदर्भ में चित्रलेखा, उर्वशी, हेमा, रंभा, मेनका, केशी, तिलोत्मा आदि के नाम लिये जाते हैं। यह बात अलग है कि पौराणिक इतिहास में सभी कलाओं का संदर्भ मिलता है।

भगवान महावीर और गौतम दोनों का जन्म 600 ईसा पूर्व माना जाता है। इसके शिष्य पूरे देश में अपने धर्म का प्रचार–प्रसार करने के लिए जाते थे। जैन धर्म में समाज के सभी वर्गों के लिए माने जाते हैं। उनमें कोई विभेद नहीं होता, इसलिए सामान्य लोक में कलाओं के सामान्य रूप भी मिलते हैं, परन्तु नारियों की भागीदारी केवल धार्मिक अवसरों पर ही मिलती है। ऐसा ही बौद्धों की परम्परा में मिलता है। जैन और बौद्ध दोनों ही सत्य और

मोक्ष के लिए इन कलाओं को अपनाते हैं, क्योंकि इनसे जन समाज को जुटाने में सहायता मिलती थी। बौद्ध ग्रंथों में ललित विस्तार की चर्चा विशेष की जाती है। जैन और बौद्ध काल में चित्रकला और मूर्तिकला के साथ–साथ नृत्यों का विकास हुआ। इनके धार्मिक मंदिरों तथा विहारों में महात्मा बुद्ध और महावीर की अनेक मूर्तियां विभिन्न शताब्दियों में लगाई गई। उपासना करते समय विभिन्न धर्मों में बलि की प्रथा थी। जो इस काल में क्रमशः कम हुई। यद्यपि दो आराध्यों को धूमिल करने के लिए शंकराचार्य का योगदान विशेष माना जाता है। बौद्ध धर्म को शंकराचार्य के प्रयासों से बड़ा झटका लगा और वह सरकते–सरकते भारतवर्ष से बाहर हो गया। आश्चर्य की बात यह है कि नंदी को शिव का वाहन माना जाता है, वह बौद्धों के साथ ही जुड़ा हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि से जुड़े लोगों को आकृष्ट करने का था। इसको इतना महत्व मिल चुका था कि ब्राह्मणों ने नंदी की महिमा कम करने के लिए शिवलिंग की स्थापना शुरू कर दी। जहां–जहां मंदिर बनाये जाते थे, वहां–वहां नृत्यांगनाओं की कल्पना मूर्तियों में की जाती थी। क्रमशः मूर्तिकला में और विकास हुआ।

नृत्य का संबंध देवदासियों से विशेष है। ये समस्त मंदिर की जिम्मेदारी लेकर ईश्वर की पूजा करती थी और जनसमाज को प्रसाद बांटती थीं। देवदासी प्रथा के अनुरूप भावनाओं और विभिन्न भावों का प्रदर्शन अपने ईश्वर के प्रति करती थीं। शिव के साथ तांडव नृत्य और पार्वती के साथ लास्य नृत्य जुड़े हुए हैं। ताण्डव की कथा इस प्रकार है – पुराणों में कहा गया है कि करीब 10000 ऋषि एक जंगल में रहते थे। उन्होंने बहुत काल तक तपस्या की। उनकी इस तपस्या से आध्यात्मिक शक्ति इतनी बढ़ गई कि वे स्वयं को सबसे श्रेष्ठ मानने लगे। भगवान शिव और विष्णु इनसे ईर्ष्या करने लगे। अतः उन्होंने

इनका तप खण्डित करने के लिए कामदेव को भेजा। भगवान शिव ने एक साधु का रूप धारण किया और विष्णु एक सुन्दर स्त्री बन गये। दोनों पुरुष और स्त्री के रूप में ऋषियों के आसपास ही रहने लगे। दोनों की सुन्दरता और शक्ति की चर्चा ऋषियों के बीच होने लगी। उनका मन डॉवाडोल हो गया। जब ऋषियों को पता चला कि ये छद्म वेशधारी कोई और है तो उन्होंने इनको श्राप दिया। पर उनके श्राप का कोई प्रभाव नहीं हुआ। तब यज्ञ करके उन्होंने पूजा की और परमात्मा से वरदान प्राप्त किया। ऋषियों ने एक ओर यज्ञ किया, जिससे एक छोटा राक्षस पैरा किया। इसके द्वारा वे साधु और उसकी स्त्री को नष्ट कराना चाहते थे। भगवान शंकर ने अपना स्वरूप छोड़कर राक्षस के शरीर पर नृत्य किया, यह ही तांडव नृत्य कहलाया। यह नृत्य बहुत जनप्रिय हुआ, क्योंकि इसमें शक्ति, उपसर्ग, भय, घृणा, सहनशीलता, चेतावनी और क्रोध का प्रतिनिधित्व है। भगवान शिव इसके जनक हैं।

लास्य नृतय की जनक पार्वती मानी जाती हैं। यह पार्वती की तपस्या के बाद शिव को आकर्षित करने के लिए किया गया था। पार्वती लगातार तपस्या कर रही थीं, परन्तु उनके सामने शिव प्रकट न होकर ब्राह्मण के रूप में सौम्यता के साथ पार्वती को तप छोड़ने की सलाह दी। पर पार्वती ने अपने व्रत को तब तक जारी रखा, जब तक शिव स्वयं अपने रूप में प्रकट नहीं हो गये। विवाह के बाद शिव को प्रसन्न करने के लिए पार्वती ने लास्य नृतय किया था। शिव नटराज के रूप में मुख्य माने जाते हैं और पार्वती शक्ति के रूप में स्वीकार की जाती हैं। दोनों के बीच में मुख्य समस्या काम के शमन की है। जैसे ही काम शमित होता है, मोह, लोभ आदि शांत हो जाते हैं, इसलिए लास्य के अंत में यह बताया जाता है कि शिव और शक्ति एक शिशु पर नृत्य करते दिखाई देते हैं। ताण्डव और लास्य

वास्तव में जगत के विकास का लक्षण भी प्रस्तुत करते हैं। लोक में इसे व्यापकता से स्वीकार किया गया, परन्तु शताब्दियों में इसका रूप लोक में बदलता गया। विभिन्न कथाओं के साथ मिलकर यह नृत्य भिन्न–भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया।

लगभग 2400 वर्ष पहले तक्षशिला में एक ब्राह्मण का जन्म हुआ था जिसे उसके माता–पिता ने चाणक्य नाम दिया था। यही चाणक्य, चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे और उन्होंने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। चाणक्य का दूसरा नाम कौटिल्य है। इन्होंने अर्थशास्त्र नामक एक पुस्तक लिखी थी, इसमें तत्कालीन राजनीति के साथ–साथ सामाजिक जीवन का भी वर्णन किया गया है। समाज के कलाकार वर्ग की चर्चा अनेक प्रकार से की गई है। इसमें गायक, नर्तक और वाद्य बजाने वाले उन लोगों की चर्चा है जो अपनी कला से ही आजीविका कमाते थे। राज्य में ऐसे कलाकारों को शाही खजाने से वृत्ति मिलती थी। कौटिल्य ने यद्यपि इन कलाकारों को कृषि से दूर रखने की सलाह दी थी, क्योंकि ये काम से ध्यान बंटा देते हैं और इसमें उपज की कमी हो जाती है।

भरत नाट्य शास्त्र के महान आचार्य माने जाते थे। इनके नाट्यशास्त्र में केवल अपने युग की ललित कलाओं, नाट्य, काव्य आदि का वर्णन इस रूप में किया गया है कि वह सार्वकालिक और सार्वजनिक हो गया है। ऐसा माना जाता है कि ब्रह्मा ने देवताओं को प्रेरित और आल्हादित करने के लिए भरतमुनि से नाट्य शास्त्र लिखने को कहा था। भरत का उल्लेख कालिदास ओर भवभूति जैसे संस्कृत के कवियों ने अपने ग्रंथों में किया है। इनके सिवाय भरतमुनि की चर्चा अभिनव भारती (अभिनव गुप्त), अभिनव दर्पण (नंदीकेश्वर), दशरूप्क (धनंजय) ने भी की है। भरत मुनि का नाट्य शस्त्र निर्विवाद रूप में साहित्य और कलाओं के संदर्भ में आदि ग्रंथ है। इसको अनेक लोगों ने अपने–अपने तरीके से भाष्य

करके प्रस्तुत किया है। नाट्यशास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखीं गई, जिनका आज भी संदर्भ दिया जाता है।

मध्ययुग के पूर्व ही तुर्कों और मुगलों ने उत्तर भारत में आना शुरू कर दिया था, प्रारम्भ में ये विदेशी विभिन्न मंदिरों और राज्यों को लूटने की दृष्टि से ही आते थे। बाद में यहां के शासक बन बैठे। मंदिरों में पाई जाने वाली दासियां, देवदासियां सभी को उन्होंने अपना गुलाम बना दिया। देवदासी जो नृत्य करती थी, उसे वे मुजरा कहा करते थे। इस समय तक विभिन्न कलाओं की स्थिति बहुत ही दयनीय थी, यह दशा शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक बनी रही, इसके बाद मुगलकाल में युवतियों को ललित कलाओं की शिक्षा दी गई। मुसलमान लड़कियों को नृत्य कराते। इस समय तक मंच पर केवल मध्य भाग ही सजाया जाता था। सारंगी, मृदंग, तबला आदि बजाने वाले अपनी कमर में बांधते थे। मशालों के बीच में ये नृत्य सैनिकों के लिए किये जाते थे। इस काल में संगीतकारों, नर्तकों और नर्तकियों के निमित्त अनेक शर्तें लगा दी गई जो आज तक उसी रूप में अपनाई जाती हैं। नर्तकियां दो प्रकार से नृतय करती थीं, तबले के बोलों और परनों के आधार पर। गीत उच्चारित किया जाता था, दूसरा प्रकार विभिन्न भावनाओं और चेहरों पर दिये जाने वाले भावों के साथ नर्तकी स्वयं गाना गाती थी। यह ठुमरी या गज़ल कहलाता थां हिन्दू समाज में राधा–कृष्ण को आलंवन बनाकर संगीतकार नृत्य परक रासलीला कराते थे। जितने भी शास्त्रीय गीत हैं वे भातखंडे ने अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किये हैं। पुस्तक का नाम कानून राग था। जो 1874 में प्रकाशित हुई थी। नृत्य में वेशभूषा पर विशेष ध्यान दिया जाता था, इसके बाद आभूषणों का नंबर आता था। ध्यान देने की बात है कि कुलीन

घरानों की लड़कियां और राजकुमारियां एक विशेष वेशभूषा धारण करतीं थीं, इसे पोशाक का नाम दिया जाता था। इसी से संगीतकारों के घराने की संज्ञा बनी।

औरंगजेब के बाद जब मुहम्मद शाह रंगीला दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तो उसने पुनः नृत्य और संगीत को बढ़ावा दिया। उसने नृत्य और संगीत की नई–नई ईजाद कीं। ठुमरी, टप्पा, ख्याल, गज़ल आदि का सूत्रपात किया। नृत्य में नये भाव, चरण और अंग संचालन जोड़े और उसे बहुत ही आकर्षक बनाया। कहा जाता है कि वाजिद अली शाह अवध का अंतिम राजा था। वह अपनी भौतिकवादी समृद्धि के लिये ही जाना जाता था। संगीत और नृत्य पर उसका विशेष चाव था। इन दोनों कलाओं को उसने विशेष रूप से प्रोत्साहित किया और व्यावहारिक तौर पर पुनर्जीवन दिया। इस समय के प्रसिद्ध लेखक मोहम्मद करम इमाम के अनुसार वाजिद अली शाह ने संगीत और नृत्य के सभी पक्षों पर महारत हासिल कर ली थी। उसके दरबार में अनेक कलाकारों को आजीविका मिली। वह स्वयं रासलीला में भाग लेता था। कृष्ण की भूमिका करते हुए गोपियों के साथ नृत्य करता था। इस समय ठुमरी और गज़ल गायकी शीर्ष पर रही।

मुगलकाल में संगीत और नृतय को पूरे देश में समर्थन मिला। प्रसिद्ध सूफी संत ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया, ख्वाजा मुयीनद्दीन चिस्ती, अजमेर, बाबा फरीद पाक पट्टन और शाहिद चान चराग, पावपनपिंग (पाकिस्तान) इस आंदोलन के कर्णधार हैं। इनकी जन्म की प्रशस्तियों में पूरे देश में कार्यक्रम किये जाते थे। इसमे ंदेश और विदेश के भक्त शामिल होते थे। मशहूर गायक और नर्तकियां इन कार्यक्रमों को चार चॉद लगा देते थे। नृत्य के साथ मुजरा भी होते थे, भक्ति परक कब्बालियां भी होती थीं।

मुगल बादशाहों ने पहले कत्थक जैसे नृत्य को संरक्षण दिया था, परन्तु अंग्रेजों के आते ही इसे बहुत बड़ा झटका लगा, क्योंकि उन्होंने अपनी व्यवस्थायें स्वयं कीं और उसमें शासकीय आदेशों के तहत् नवाबों, राजाओं और जमींदारों आदि को शामिल होना पड़ता था। ब्रिटिशकाल में भारतीय नृत्य और संगीत को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। कलाकार केवल तीर्थ स्थानों या मंदिरों में अपनी प्रस्तुतियां करते थे। इसी प्रकार मुसलमानों के बीच सूफी मजारों पर विशेषकर अजमेर शरीफ और पटना शरीफ में मजलिस लगाया करते थे, परन्तु इनके प्रदर्शन एक सीमित समाज तक ही रह गये।

आधुनिक काल में स्वतंत्रता के बाद भारत में अनेक अकादमियां बनाई गई। राज्यों में इनके केन्द्र स्थापित किये गये और सरकार की ओर से उन्हें संरक्षण मिला। नेशनल एकेडमी ऑफ डांस, म्यूजिक एण्ड ड्रामा, न्यू देहली ने पांच शास्त्रीय नृत्यों को मान्यता दी। (1) कत्थक, (2) कत्थककली, (3) भरत नाट्यम, (4) ओडिसी, (5) मणिपुरी। इनके महान आचार्य अब इन नृत्यों में संभवतः सुधार कर रहे हैं। शास्त्रीय नृत्यों के समानान्तर लोकनृत्यों की परम्परायें आदिकाल से चलती रही हैं। ये नृत्य पूर्णतः शास्त्रीय नहीं होते। इनमें प्रदेश विशेष के अनुरूप एक नैसर्गिक विशेषता होती है। जो दूसरे प्रदेशों से भिन्न है। लोकनृत्य को देखकर ही अपने आप कह उठते हैं कि यह अमुक प्रदेश का है।

नृत्य क्या है? संक्षेप में यह कहा जाता है कि नृत्य सुख और आनंद की अभिव्यक्ति है। जब एक व्यक्ति, प्राणी, पशु या पक्षी अत्यधिक सुख का अनुभव करता है और उससे शक्तिवान और उत्साही हो जाता है, तो उसका शरीर रोकने पर भी आनंद की प्रतीति हाथों, पैरों और चेहरे के भाव से कूदकर, उछाल भरके, डोलायमान होकर अथवा अन्य तरीकों से व्यक्त कर देता है। नृत्य तीन प्रकार के होते हैं – एक, दो व्यक्तियों का नृत्य,

तीसरा सामूहिक नृत्य। जैसा कि इनका नाम है इसमें उतने ही व्यक्ति जुड़ जाते हैं। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक जीवन का एक दर्शन होता है। मनुष्य की भावनायें विचार आदि का प्रदर्शन कुछ विशेष अवसरों पर अपने आप अथवा सायाश प्रस्तुत हो जाता है। विभिन्न आश्रयों में रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। यहीं पर उसका सामाजिक जीवन, सांस्कृतिक जीवन से संस्पर्श पाता है और इसका मूर्तिमान रूप किसी बच्चे के जन्म, विवाह, विजय, धार्मिक, उत्सवों, त्यौहारों, मेलों अथवा अच्छे कार्यों में प्रसंशा देने में मिलता है। ऐसा माना गया है कि समस्त प्राणियों में काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार पाया जाता है। मनुष्य स्वतंत्रता के साथ स्वयं को अभिव्यक्त करते, जबकि प्राणियों में यह नैसर्गिक है। मनुष्य चूंकि बुद्धिशील प्राणी है वह इन दोनों को शीघ्र ही नियंत्रित कर लेता है, उसका ज्ञान दूसरों एवं स्वयं को प्रेरणा ही नहीं देता, आगे भी बढ़ाता है।

इसी का एक साक्ष्य प्रमाण ळे जो कि इस कला के बचपन से ही ऐसे वशीभूत हुए की आपने आप को कला के प्रति सर्मपित कर दिया, उन्होंने न समाज की न परिवार की परवाह किये बिना ही इस लोक कला के रंग में रंग गये,

इसी प्रकार सन् 1954 में भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के सागर आगमन पर प्रकाशित जवाहर अभिनंदन ग्रंथ में राई से संबंधित एक मंदृग वादक का उल्लेख मिलता है नंन्नी देवरी के सागर के श्री रघुवीर चौधरी को ब्रिटिश काल में किसी अपराध के लिए फॉसी की सजा सुनाई गई थी फॉसी देने के पहले जब उसकी अंतिम इच्छा पूछी गई तब उसने बेडनी के साथ मृंदग बजाकर राई करने की इच्छा प्रकृत की थी जिसे स्वीकार कर लिया गया था, तो जेल में ही बेड़नी बुलाकर राई कराई गई जब

रघवीर चौधरी ने अपना मृदंग कमर में बाधकर बेड़िनीयों के साथ लोक नृत्य राई किया और जी भर के नाचे।

कहते है वहा के जेलर की पत्नि को यह नृत्य इतना भाया की मंदृग बजाने की कला से बहुत प्रभावित हुई उससे प्रसंन्न होकर रघुवीर चौधरी को लगने वाली फॉसी की सजा माफ करने के लिए जी तोड़कर मेहनत की अंत में रघुवीर चौधरी की फॉसी को माफ कर दिया गया था, व उसे जेल से मुक्त कर दिया गया था। बुजुर्गो के कथानुसार ब्रिटिश में ही खुरई तहसील में एक जुदईया नाम की बहुत सुंदर बेडनी रहती थी, उसने बेड़िया से शादी कर ली थी बेड़िया की ही आज्ञा से नृत्य करने को जाती थी, नही तो घर पर रहकर अपनी घर गृहस्थी का काम देखा करती थी, कार्यवश एक समय बेड़िया किसी कार्य से शाहगढ़ गया हुआ था फावनी बसंती मौसम था, पास में ही चौकी थी जहॉ पर 10–15 सिपाही तैनात थे उन्होंने जुदईया को अकेली देख उससे नाचने का प्रस्ताव उसके सामने रखा मगर उसने उनका आग्रह स्वीकार से साफ इंकार कर दिया तब अंग्रेज सिपाही जुदंईया को जबरन उठा ले गये, और रात भर शराब के नशे में उसे नचाते रहे, और असहाय स्त्री के साथ जघन्य कृत्य भी किया जब सुबह होने पर बेड़ियॉ घर लौटा तो उसके आने पर जुदईया ने पूरा किस्सा सुना डाला तो जिसे सुनकर बेडियॉ आग बबूला हो उठा उसने उसी वक्त जुदईया को बुलाया और थाने में पहुचा, सिपाही शराब के नशे में गहरी नींद में सो रहे थे, बेड़िया ने अपनी तबल से सभी के सिर कलम कर दिये दूसरे ही दिन पुलिस ने उसे पकड़कर सागर कोर्ट में पेश किया जहॉ से उसे जेल मे भेज दिया गया। और बाद मे उसे फॉसी की सजा दे दी गई लोग कहते है कि बेड़िया की जेल के बाहर समाधि बना दी गई थी तो जुदईया जीवन भर रोती रही जब तक ज़िदा रही वह हर

साल दीवाली पर सागर जेल के सामने आती और अपने पति बेड़िया की स्मृति में मधुकर शाह बुंदेला की बनी समाधि के निकट अपनी पति बेड़िया की समाधि पर दीपक जलाकर घर लौट जाती थी। इस तरह के लोक नृत्य राई से जुडे हुए अनेको किस्से सुनने को मिलते है, जिनका हमारे देश की आज़ादी एवं इतिहास व लोक कला से जुड़े हुये होते है।